साभार: प्रवान सिंह

इस पृष्ठ तथा अगले पृष्ठों पर दिए गए चित्रों में चिपको आंदोलन के सहभागियों एवं नेताओं को दर्शाया गया है। यह आंदोलन देश के पर्यावरणीय आंदोलनों में अहम स्थान रखता है।

इस अध्याय में...

आज़ादी के तीन दशक बाद लोगों का धीरज टूटने लगा था। जनता की बेचैनी कई रूपों में अभिव्यक्त हुई। पिछले अध्याय में हम चुनावी भूचाल और राजनीतिक संकट के बारे में पढ़ ही चुके हैं। बहरहाल, जन-असंतोष की अभिव्यक्ति सिर्फ़ इसी रूप में ही नहीं हुई। 1970 के दशक में विभिन्न सामाजिक वर्गों, जैसे–महिला, छात्र, दलित और किसानों को लग रहा था कि लोकतांत्रिक राजनीति उनकी ज़रूरत और माँगों पर ध्यान नहीं दे रही है। इसके चलते ये समूह अपनी आवाज़ बुलंद करने के लिए विभिन्न सामाजिक संगठनों के झंडे के नीचे एकजुट हुए। इन आवाज़ों से जन आंदोलन का ज्वार उमड़ा और भारतीय राजनीति में नए सामाजिक आंदोलन सक्रिय हुए।

इस अध्याय में हम 1970 के दशक के बाद के जन आंदोलनों की विकास-यात्रा को परखने की कोशिश करेंगे। इस चर्चा से हम समझ सकेंगे कि :

- जन आंदोलन क्या हैं?
- भारतीय समाज के किन तबकों को इन आंदोलनों ने लामबंद किया है?
- हमारे लोकतांत्रिक ढाँचे में ये जन आंदोलन क्या भूमिका निभाते हैं?

अध्याय 7

जन आंदोलनों का उदय

जन आंदोलनों की प्रकृति

इस अध्याय के शुरुआती चित्र पर ध्यान दीजिए। आप इसमें क्या देख रहे हैं? गाँव की महिलाओं ने सचमुच पेड़ों को अपनी बाँहों में बाँध रखा है। क्या ये लोग कोई खेल खेल रहे हैं या, ये लोग कोई पर्व-त्योहार मना रहे हैं? दरअसल चित्र में नज़र आ रहे लोग ऐसा कुछ नहीं कर रहे हैं। यहाँ जो तसवीर दी गई है उसमें सामूहिक कार्रवाई की एक असाधारण घटना को दर्ज़ किया गया है। यह घटना 1973 में घटी जब मौजूदा उत्तराखंड के एक गाँव के स्त्री-पुरुष एकजुट हुए और जंगलों की व्यावसायिक कटाई का विरोध किया। सरकार ने जंगलों की कटाई के लिए अनुमति दी थी। गाँव के लोगों ने अपने विरोध को जताने के लिए एक नयी तरकीब अपनायी। इन लोगों ने पेड़ों को अपनी बाँहों में घेर लिया ताकि उन्हें कटने से बचाया जा सके। यह विरोध आगामी दिनों में भारत के पर्यावरण आंदोलन के रूप में परिणत हुआ और 'चिपको-आंदोलन' के नाम से विश्वप्रसिद्ध हुआ।

चिपको आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत उत्तराखंड के दो-तीन गाँवों से हुई थी। इसके पीछे एक कहानी है। गाँव वालों ने वन विभाग से कहा कि खेती-बाड़ी के औज़ार बनाने के लिए हमें अंगू के पेड़ काटने की अनुमति दी जाए। वन विभाग ने अनुमति देने से इनकार कर दिया। बहरहाल, विभाग ने खेल-सामग्री के एक विनिर्माता को ज़मीन का यही टुकड़ा व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए आबंटित कर दिया। इससे गाँव वालों में रोष पैदा हुआ और उन्होंने सरकार के इस कदम का विरोध किया। यह विरोध बड़ी जल्दी उत्तराखंड के अन्य इलाकों में भी फैल गया। क्षेत्र की पारिस्थितिकी और आर्थिक शोषण के कहीं बड़े सवाल उठने लगे। गाँववासियों ने माँग की कि

साभार: अनुपम मिश्र

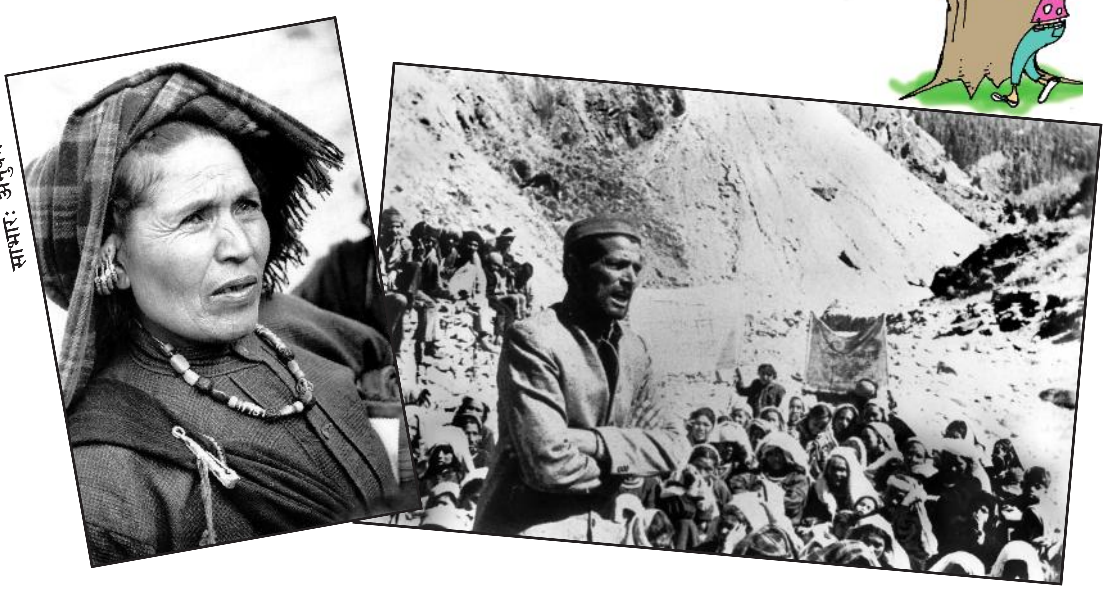

यहाँ दिए गए दो चित्र चिपको आंदोलन में संघर्ष के दिनों के साक्षी हैं। ग़ौर कीजिए कि इस आंदोलन में महिलाओं ने पूरी दृढ़ता के साथ भाग लिया था और इस आंदोलन को एक नयी दिशा दी थी।

जंगल की कटाई का कोई भी ठेका बाहरी व्यक्ति को नहीं दिया जाना चाहिए और स्थानीय लोगों का जल, जंगल, जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर कारगर नियंत्रण होना चाहिए। लोग चाहते थे कि सरकार लघु-उद्योगों के लिए कम कीमत की सामग्री उपलब्ध कराए और इस क्षेत्र के पारिस्थितिकी संतुलन को नुकसान पहुँचाए बगैर यहाँ का विकास सुनिश्चित करे। आंदोलन ने भूमिहीन वन कर्मचारियों का आर्थिक मुद्दा भी उठाया और न्यूनतम मज़दूरी की गारंटी की माँग की।

चिपको आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय भागीदारी की। यह आंदोलन का एकदम नया पहलू था। इलाके में सक्रिय जंगल कटाई के ठेकेदार यहाँ के पुरुषों को शराब की आपूर्त्ति का भी व्यवसाय करते थे। महिलाओं ने शराबखोरी की लत के खिलाफ़ भी लगातार आवाज़ उठायी। इससे आंदोलन का दायरा विस्तृत हुआ और उसमें कुछ और सामाजिक मसले आ जुड़े। आखिरकार इस आंदोलन को सफलता मिली और सरकार ने पंद्रह सालों के लिए हिमालयी क्षेत्र में पेड़ों की कटाई पर रोक लगा दी ताकि इस अवधि में क्षेत्र का वनाच्छादन फिर से ठीक अवस्था में आ जाए। बहरहाल, बात इस आंदोलन की सफलता की तो है ही, साथ ही हमें यह भी याद रखना होगा कि यह आंदोलन सत्तर के दशक और उसके बाद के सालों में देश के विभिन्न भागों में उठे अनेक जन आंदोलनों का प्रतीक बन गया। इस अध्याय में हम ऐसे ही कुछ आंदोलनों के बारे में पढ़ेंगे।

दल-आधारित आंदोलन

जन आंदोलन कभी सामाजिक तो कभी राजनीतिक आंदोलन का रूप ले सकते हैं और अकसर ये आंदोलन दोनों ही रूपों के मेल से बने नज़र आते हैं। उदाहरण के लिए, हम अपने स्वाधीनता आंदोलन को ही लें। यह मुख्य रूप से राजनीतिक आंदोलन था लेकिन हम जानते हैं कि औपनिवेशिक दौर में सामाजिक-आर्थिक मसलों पर भी विचार मंथन चला जिससे अनेक स्वतंत्र सामाजिक आंदोलनों का जन्म हुआ, जैसे-जाति प्रथा विरोधी आंदोलन, किसान सभा आंदोलन और मज़दूर संगठनों के आंदोलन। ये आंदोलन बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में अस्तित्व में आए। इन आंदोलनों ने सामाजिक संघर्षों के कुछ अंदरूनी मुद्दे उठाए।

ऐसे कुछ आंदोलन आज़ादी के बाद के दौर में भी चलते रहे। मुंबई, कोलकाता और कानपुर जैसे बड़े शहरों के औद्योगिक मज़दूरों के बीच मज़दूर संगठनों के आंदोलन का बड़ा ज़ोर था। सभी बड़ी पार्टियों ने इस तबके के मज़दूरों को लामबंद करने के लिए अपने-अपने मज़दूर संगठन बनाए। आज़ादी के बाद के शुरुआती सालों में आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के किसान कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में लामबंद हुए। इन्होंने काश्तकारों के बीच ज़मीन के पुनर्वितरण की माँग की। आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल और बिहार के कुछ भागों में किसान तथा खेतिहर मज़दूरों ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में अपना विरोध जारी रखा।

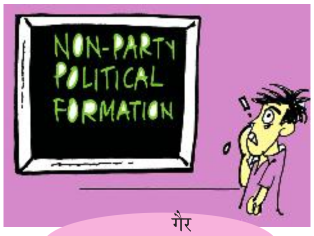

गैर राजनीतिक संगठन? मैं यह बात कुछ समझा नहीं! आखिर, पार्टी के बिना राजनीति कैसे की जा सकती है।

आप मार्क्सवादी-लेनिनवादी समूहों के बारे में पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। इन्हें 'नक्सलवादी' के नाम से जाना गया। किसान और मज़दूरों के आंदोलन का मुख्य ज़ोर आर्थिक अन्याय तथा असमानता के मसले पर रहा। ऐसे आंदोलनों ने औपचारिक रूप से चुनावों में भाग तो नहीं लिया लेकिन राजनीतिक दलों से इनका नज़दीकी रिश्ता कायम हुआ। इन आंदोलनों में शरीक कई व्यक्ति और संगठन राजनीतिक दलों से सक्रिय रूप से जुड़े। ऐसे जुड़ावों से दलगत राजनीति में विभिन्न सामाजिक तबकों की बेहतर नुमाइंदगी सुनिश्चित हुई।

राजनीतिक दलों से स्वतंत्र आंदोलन

'सत्तर' और 'अस्सी' के दशक में समाज के कई तबकों का राजनीतिक दलों के आचार-व्यवहार से मोहभंग हुआ। इसका तात्कालिक कारण तो यही था कि जनता पार्टी के रूप में गैर-कांग्रेसवाद का प्रयोग कुछ खास नहीं चल पाया और इसकी असफलता से राजनीतिक अस्थिरता का माहौल भी कायम हुआ था। लेकिन, अगर कारणों की खोज ज़रा दूर तक करें तो पता चलेगा कि सरकार की आर्थिक नीतियों से भी लोगों का मोहभंग हुआ था। देश ने आज़ादी के बाद नियोजित विकास (Planned Development) का मॉडल अपनाया था। इस मॉडल को अपनाने के पीछे दो लक्ष्य थे–आर्थिक संवृद्धि और आय का समतापूर्ण बँटवारा। आप इसके बारे में तीसरे अध्याय में पढ़ चुके हैं। आज़ादी के शुरुआती 20 सालों में अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में उल्लेखनीय संवृद्धि हुई, लेकिन इसके बावजूद गरीबी और असमानता बड़े पैमाने पर बरकरार रही। आर्थिक संवृद्धि के लाभ समाज के हर तबके को समान मात्रा में नहीं मिले। जाति और लिंग पर आधारित सामाजिक असमानताओं ने गरीबी के मसले को और ज़्यादा जटिल तथा धारदार बना दिया। शहरी-औद्योगिक क्षेत्र तथा ग्रामीण कृषि-क्षेत्र के बीच भी एक न पाटी जा सकने वाली फाँक पैदा हुई। समाज के विभिन्न समूहों के बीच अपने साथ हो रहे अन्याय और वंचना का भाव प्रबल हुआ।

राजनीतिक धरातल पर सक्रिय कई समूहों का विश्वास लोकतांत्रिक संस्थाओं और चुनावी राजनीति से उठ गया। ये समूह दलगत राजनीति से अलग हुए और अपने विरोध को स्वर देने के लिए इन्होंने आवाम को लामबंद करना शुरू किया। इस काम में छात्र तथा समाज के विभिन्न तबकों के राजनीतिक कार्यकर्ता आगे आए और दलित तथा आदिवासी जैसे हाशिए पर धकेल दिए गए समूहों को लामबंद करना शुरू किया। मध्यवर्ग के युवा कार्यकर्ताओं ने गाँव के गरीब लोगों के बीच रचनात्मक कार्यक्रम तथा सेवा संगठन चलाए। इन संगठनों के सामाजिक कार्यों की प्रकृति स्वयंसेवी थी इसलिए इन संगठनों को स्वयंसेवी संगठन या स्वयंसेवी क्षेत्र के संगठन कहा गया।

ऐसे स्वयंसेवी संगठनों ने अपने को दलगत राजनीति से दूर रखा। स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर ये संगठन न तो चुनाव लड़े और न ही इन्होंने किसी एक राजनीतिक दल को अपना समर्थन दिया। ऐसे अधिकांश संगठन राजनीति में विश्वास करते थे और उसमें भागीदारी भी करना चाहते थे, लेकिन इन्होंने राजनीतिक भागीदारी के लिए राजनीतिक दलों को नहीं चुना। इसी कारण इन संगठनों को 'स्वतंत्र राजनीतिक संगठन' कहा जाता है। इन संगठनों का मानना था कि स्थानीय मसलों के समाधान में स्थानीय नागरिकों की सीधी और सक्रिय भागीदारी राजनीतिक दलों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा कारगर होगी। इन संगठनों का विश्वास था कि लोगों की सीधी भागीदारी से लोकतांत्रिक सरकार की प्रकृति में सुधार आएगा।

साभार: डिज़ाइन एंड पीपल

जन आंदोलनों में अकसर अपने सरोकारों को ज़ाहिर करने के लिए पोस्टरों का इस्तेमाल होता है। बहुधा ये पोस्टर बड़े कल्पनाशील और सुंदर ढंग से बने होते हैं। यहाँ ऐसे ही कुछ पोस्टरों की एक बानगी दी गई है। देखें (ऊपर से नीचे क्रमवार) पहला पोस्टर कोका कोला संयंत्र के विरोध में बनाया गया; दूसरा पोस्टर एक राजमार्ग के निर्माण के प्रति विरोध जताने के लिए तैयार किया गया है। तीसरा पोस्टर पेरियार नदी को बचाने के एक अभियान से संबंधित है।

नामदेव ढसाल

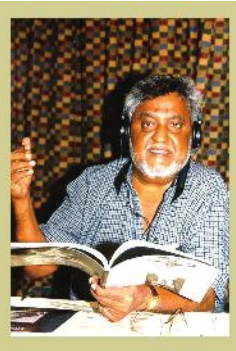

सदियों तक सफर किया उन लोगों ने/सूरज की तरफ़ पीठ किए
लेकिन अब, हमें कहना है 'ना'/अंधेरे की इस पथयात्रा से।
हाँ! हमारे पुरखे-अँधेरे को ढोते-ढोते झुक गए
लेकिन अब, हमें उतारना है बोझ उनकी पीठ से।
इस अनुपम नगर के लिए ही बिखरा था हमारा लहू
और बदले में यह मिला-खाने को पत्थर!
लेकिन अब, हमें ढाहनी ही होगी/यह इमारत जो चूम रही आकाश को।
हज़ारों बरस बाद मिला हमें/वह सूरजमुखी आशीषों वाला फ़कीर
अब, हाँ अब! सूरजमुखी की तरह हमें भी/घुमाना ही होगा मुख अपना सूरज की तरफ़।

– नामदेव ढसाल कृत *गोलपीठ* की मराठी कविता का हिंदी अनुवाद

अब भी ऐसे स्वयंसेवी संगठन शहरी और ग्रामीण इलाकों में लगातार सक्रिय हैं। बहरहाल, अब इनकी प्रकृति बदल गई है। बाद के समय में ऐसे अनेक संगठनों का वित्त-पोषण विदेशी एजेंसियों से होने लगा। ऐसी एजेंसियों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर की सर्विस-एजेंसियाँ भी शामिल हैं। इन संगठनों को बड़े पैमाने पर अब विदेशी धनराशि प्राप्त होती है जिससे स्थानीय पहल का आदर्श कुछ कमज़ोर हुआ है।

दलित पैंथर्स

मराठी के प्रसिद्ध कवि नामदेव ढसाल की इस कविता को पढ़िए। क्या आप बता सकते हैं कि इस कविता में आए 'अँधेरे की पथयात्रा' और 'सूरजमुखी आशीषों वाला फकीर' के क्या अर्थ हैं? 'अँधेरे की पथयात्रा' से संकेत दलित समुदाय की ओर किया गया है। इस समुदाय ने हमारे समाज में लंबे समय तक क्रूरतापूर्ण जातिगत अन्याय को भुगता है। कवि ने इस समुदाय के मुक्तिदाता डॉ. अंबेडकर को इंगित करने के लिए 'सूरजमुखी आशीषों वाला फ़कीर' पद का प्रयोग किया है। महाराष्ट्र के दलित-कवियों ने सत्तर के दशक में ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं। आज़ादी के बीस साल बाद भी दलित समुदाय को पीड़ा के अनुभवों से गुज़रना पड़ रहा था और उनकी इस पीड़ा तथा आक्रोश की अभिव्यक्ति इन कविताओं में हुई। बहरहाल, दलित समुदाय अपने लिए एक सुंदर भविष्य की आशा से भरा हुआ था– एक ऐसा भविष्य जिसे दलित समुदाय स्वयं अपने हाथों से गढ़े। आप सामाजिक-आर्थिक बदलावों को लेकर डॉ. अंबेडकर के स्वप्न और हिंदू जाति-व्यवस्था के ढाँचे से बाहर दलितों को एक गरिमापूर्ण स्थान दिलाने के उनके जुझारू संघर्ष की बातों को जान चुके हैं। ऐसे में आश्चर्य नहीं कि दलित मुक्ति से प्रेरित अधिकांश रचनाओं में डॉ. अंबेडकर का वर्णन एक प्रेरणा-पुरुष के रूप में मिलता है।

क्या दलितों की स्थिति इसके बाद से ज़्यादा बदल गई है? दलितों पर अत्याचार की घटनाओं के बारे में मैं रोज़ाना सुनती हूँ। क्या यह आंदोलन असफल रहा? या, यह पूरे समाज की असफलता है?

उदय

सातवें दशक के शुरुआती सालों से शिक्षित दलितों की पहली पीढ़ी ने अनेक मंचों से अपने हक की आवाज़ उठायी। इनमें ज़्यादातर शहर की झुग्गी-बस्तियों में पलकर बड़े हुए दलित थे। दलित हितों की दावेदारी के इसी क्रम में महाराष्ट्र में 1972 में दलित युवाओं का एक संगठन 'दलित पैंथर्स' बना। आज़ादी के बाद के सालों में दलित समूह मुख्यतया जाति-आधारित असमानता और भौतिक साधनों के मामले में अपने साथ हो रहे अन्याय के खिलाफ़ लड़

रहे थे। वे इस बात को लेकर सचेत थे कि संविधान में जाति-आधारित किसी भी तरह के भेदभाव के विरुद्ध गारंटी दी गई है। आरक्षण के कानून तथा सामाजिक न्याय की ऐसी ही नीतियों का कारगर क्रियान्वयन इनकी प्रमुख माँग थी।

आप जानते हैं कि भारतीय संविधान में छुआछूत की प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। सरकार ने इसके अंतर्गत 'साठ' और 'सत्तर' के दशक में कानून बनाए। इसके बावजूद पुराने जमाने में जिन जातियों को अछूत माना गया था, उनके साथ इस नए दौर में भी सामाजिक भेदभाव तथा हिंसा का बरताव कई रूपों में जारी रहा। दलितों की बस्तियाँ मुख्य गाँव से अब भी दूर होती थीं। दलित महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार होते थे। जातिगत प्रतिष्ठा की छोटी-मोटी बात को लेकर दलितों पर सामूहिक जुल्म ढाये जाते थे। दलितों के सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न को रोक पाने में कानून की व्यवस्था नाकाफ़ी साबित हो रही थी। दूसरी तरफ़, दलित जिन राजनीतिक दलों का समर्थन कर रहे थे जैसे–रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया, वे चुनावी राजनीति में सफल नहीं हो पा रही थीं। ये पार्टियाँ हाशिए पर रहती थीं, चुनाव जीतने के लिए इन्हें किसी दूसरी पार्टी के साथ गठजोड़ करना पड़ता था। ये पार्टियाँ लगातार टूट की भी शिकार हुईं।

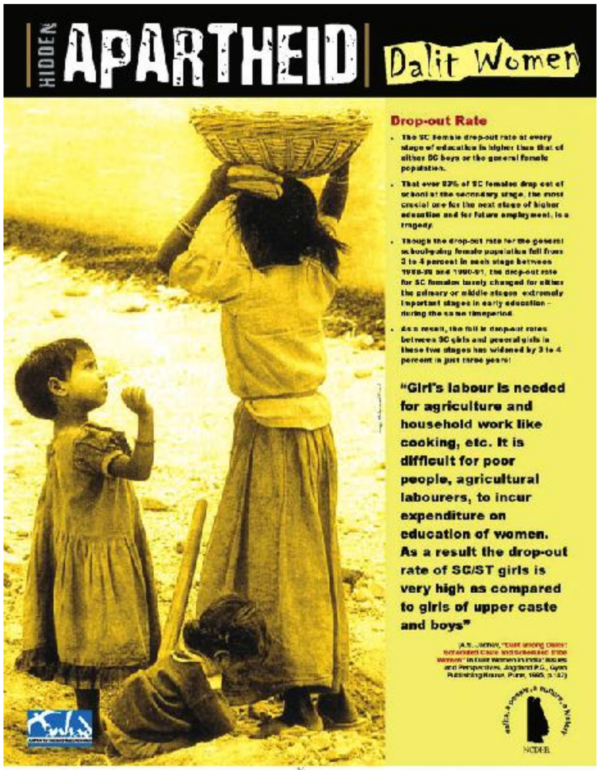

साभार: अनहद एवं एनसीडीएचआर

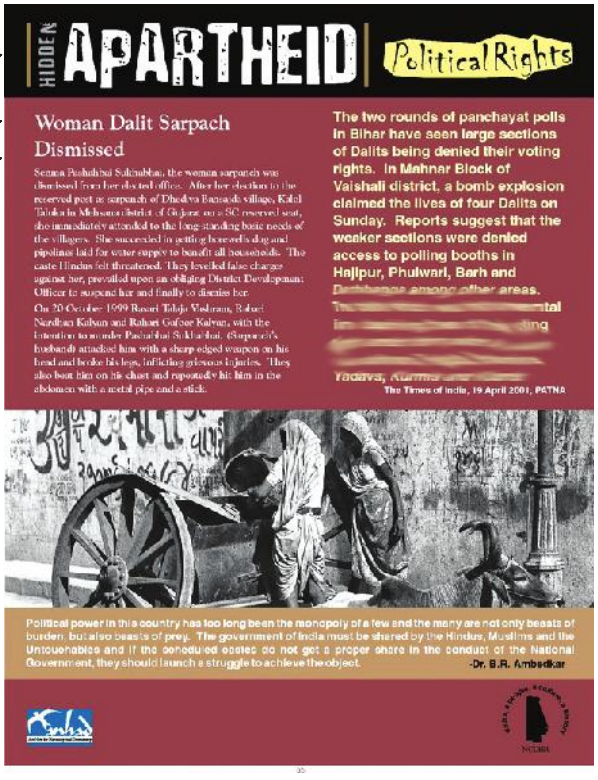

साभार: अनहद एवं एनसीडीएचआर

इन वजहों से 'दलित पैंथर्स' ने दलित अधिकारों की दावेदारी करते हुए जन-कार्रवाई का रास्ता अपनाया।

गतिविधि

महाराष्ट्र के विभिन्न इलाकों में दलितों पर बढ़ रहे अत्याचार से लड़ना दलित पैंथर्स की अन्य मुख्य गतिविधि थी। दलित पैंथर्स तथा इसके समधर्मा संगठनों ने दलितों पर हो रहे अत्याचार के मुद्दे पर लगातार विरोध आंदोलन चलाया। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने 1989 में एक व्यापक कानून बनाया। इस कानून के अंतर्गत दलित पर अत्याचार करने वाले के लिए कठोर दंड का प्रावधान किया गया। दलित पैंथर्स का बृहत्तर विचारधारात्मक अजेंडा जाति प्रथा को समाप्त करना तथा भूमिहीन गरीब किसान, शहरी औद्योगिक मज़दूर और दलित सहित सारे वंचित वर्गों का एक संगठन खड़ा करना था।

इस आंदोलन से पढ़े-लिखे दलित युवकों को एक मंच मिला जहाँ वे अपनी सर्जनशीलता का उपयोग प्रतिरोध की आवाज़ बनाकर कर सकते थे। इस दौर में अनेक आत्मकथाएँ तथा अन्य साहित्य रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इन रचनाओं में दलित लेखकों ने जाति-प्रथा की क्रूरता की ज़बर्दस्त मुखालफ़त की।

भारतीय समाज के सबसे दबे-कुचले तबके के जीवन के अनुभव इन रचनाओं में दर्ज थे। इन रचनाओं से मराठी भाषा के साहित्य में ज़बर्दस्त हिलोर उठी। साहित्य का दायरा अब ज़्यादा विस्तृत हुआ। उसमें समाज के विभिन्न वर्गों की नुमाइंदगी हुई और संस्कृति के धरातल पर एक टकराहट की शुरुआत हुई। आपातकाल के बाद के दौर में दलित पैंथर्स ने चुनावी समझौते किए। उसमें कई विभाजन भी हुए और यह संगठन राजनीतिक पतन का शिकार हुआ। बैकवर्ड एंड माइनॉरिटी एम्पलाईज़ फेडरेशन (बामसेफ) ने दलित पैंथर्स की अवनति से उत्पन्न रिक्त स्थान की पूर्ति की।

भारतीय किसान यूनियन

सत्तर के दशक से भारतीय समाज में कई तरह के असंतोष पैदा हुए। यहाँ तक कि समाज के जिन तबकों को विकास प्रक्रिया में कुछ लाभ हुआ था उनमें भी सरकार और राजनीतिक दलों के प्रति नाराज़गी थी। अस्सी के दशक का कृषक-संघर्ष इसका एक उदाहरण है जब अपेक्षाकृत धनी किसानों ने सरकार की नीतियों का विरोध किया।

उदय

1988 के जनवरी में उत्तर प्रदेश के एक शहर मेरठ में लगभग बीस हज़ार किसान जमा हुए। ये किसान सरकार द्वारा बिजली की दर में की गई बढ़ोतरी का विरोधी कर रहे थे। किसान ज़िला समाहर्ता के दफ्तर के बाहर तीन हफ्तों तक डेरा डाले रहे। इसके बाद इनकी माँग मान ली गई। किसानों का यह बड़ा अनुशासित धरना था और जिन दिनों वे धरने पर बैठे थे उन दिनों आस-पास के गाँवों से उन्हें निरंतर राशन-पानी मिलता रहा। मेरठ के इस धरने को ग्रामीण शक्ति का या कहें कि काश्तकारों की शक्ति का एक बड़ा प्रदर्शन माना गया। धरने पर बैठे किसान, भारतीय किसान यूनियन (बीकेयू) के सदस्य थे। बीकेयू पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के किसानों का एक संगठन था। यह अस्सी के दशक के किसान आंदोलन के अग्रणी संगठनों में एक था।

साभार: हिंदुस्तान टाइम्स

पंजाब में भारतीय किसान यूनियन की एक रैली

तीसरे अध्याय में आपने पढ़ा था कि सरकार ने जब 'हरित क्रांति' की नीति अपनाई तो 1960 के दशक के अंतिम सालों से हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसानों को फ़ायदा होना शुरू हो गया। इसके बाद के सालों से इन इलाकों में गन्ना और गेहूँ मुख्य नगदी फ़सल बने। 1980 के दशक के उत्तरार्ध से भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के प्रयास हुए और इस क्रम में नगदी फ़सल के बाज़ार को संकट का सामना करना पड़ा। भारतीय किसान यूनियन ने गन्ने और गेहूँ के सरकारी खरीद मूल्य में बढ़ोतरी करने, कृषि उत्पादों के अंतर्राज्यीय आवाजाही पर लगी पाबंदियाँ हटाने, समुचित दर पर गारंटीशुदा बिजली आपूर्ति करने, किसानों के बक़ाया कर्ज़ माफ करने तथा किसानों के लिए पेंशन का प्रावधान करने की माँग की।

ऐसी माँगें देश के अन्य किसान संगठनों ने भी उठाईं। महाराष्ट्र के शेतकारी संगठन ने किसानों के आंदोलन को 'इंडिया' की ताकतों (यानी शहरी औद्योगिक क्षेत्र) के खिलाफ़ 'भारत' (यानी ग्रामीण कृषि क्षेत्र) का संग्राम करार दिया। आप तीसरे अध्याय में यह बात पढ़ ही चुके हैं कि भारत में अपनाए गए विकास के मॉडल से जुड़े विवादों में कृषि बनाम उद्योग का विवाद प्रमुख था। यही विवाद अस्सी के दशक में एक बार फिर उठा जब उदारीकरण की आर्थिक नीतियों के कारण कृषि क्षेत्र पर खतरे मँडराने लगे थे।

विशेषताएँ

सरकार पर अपनी माँगों को मानने के लिए दबाव डालने के क्रम में बीकेयू ने रैली, धरना, प्रदर्शन और जेल भरो अभियान का सहारा लिया। इन कार्रवाइयों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उसके आस-पास के इलाके के गाँवों के हज़ारों-हज़ार (कभी-कभी तो एक लाख से भी ज़्यादा) किसानों ने भाग लिया। पूरे अस्सी के दशक भर बीकेयू ने राज्य के अनेक जिला मुख्यालयों पर इन किसानों की विशाल रैली आयोजित की। देश की राजधानी दिल्ली में भी बीकेयू ने रैली का आयोजन किया। इस लामबंदी का एक नया पक्ष यह था कि इसमें किसानों के जातिगत जुड़ाव का इस्तेमाल किया गया था। बीकेयू के अधिकांश सदस्य एक खास समुदाय के थे। इस संगठन ने जातिगत समुदायों को आर्थिक मसले पर एकजुट करने के लिए 'जाति-पंचायत' की परंपरागत संस्था का उपयोग किया। किसी औपचारिक सांगठनिक ढाँचे के अभाव के बावजूद बीकेयू अपने को लंबे समय तक कायम रख सका क्योंकि यह संगठन अपने सदस्यों के जातिगत-वंशगत संपर्क-जाल पर आधारित था। बीकेयू के लिए धनराशि और संसाधन इन्हीं संपर्कतंत्रों से जुटाए जाते थे और इन्हीं के सहारे बीकेयू की गतिविधियाँ भी संचालित होती थीं।

1990 के दशक के शुरुआती सालों तक बीकेयू ने अपने को सभी राजनीतिक दलों से दूर रखा था। यह अपने सदस्यों के संख्या बल के दम पर राजनीति में एक दबाव समूह की तरह सक्रिय था। इस संगठन ने राज्यों में मौजूद अन्य किसान संगठनों को साथ लेकर अपनी कुछ माँगें मनवाने में सफलता पाई। इस अर्थ में किसान आंदोलन अस्सी के दशक में सबसे ज़्यादा सफल सामाजिक आंदोलन था। इस आंदोलन की सफलता के पीछे इसके सदस्यों की राजनीतिक मोल-भाव की क्षमता का हाथ था। यह आंदोलन मुख्य रूप से देश के समृद्ध राज्यों में सक्रिय था। खेती को अपनी जीविका का आधार बनाने वाले अधिकांश भारतीय किसानों के विपरीत बीकेयू जैसे संगठनों के

बीकेयूः कृषि को डब्ल्यूटीओ से बाहर रखे सरकार

कार्यालय संवाददाता

मैसूरः 15 फरवरी– भारतीय किसान यूनियन ने चेतावनी दी है कि अगर भारत ने कृषि को विश्व व्यापार संगठन के दायरे से बाहर रखने के लिए ज़रूरी कदम नहीं उठाए तो देश को इसके सामाजिक-आर्थिक परिणाम भुगतने होंगे।

यूनियन के प्रमुख महेन्द्र सिंह टिकैत और इसकी राष्ट्रीय समायोजन समिति के संयोजक एम. युद्धवीर सिंह ने आज यहाँ एक प्रेस-सम्मेलन में चेताया कि अगर भारत विश्व व्यापार संगठन के कायदे-कानूनों को मान लेता है तो यह उसके लिए खतरनाक होगा। विश्व व्यापार संगठन की अगले दौर की बैठक नवंबर में हाँगकाँग में होने वाली है। नेताओं ने कहा कि सरकार पर दबाव डालने के लिए आगामी 17 मार्च को नयी दिल्ली में रैली निकाली जाएगी ताकि सरकार खेती से संबंधित विश्व व्यापार संगठन के कानूनों के आगे घुटने न टेके। रैली में देश के विभिन्न हिस्सों से लगभग पाँच लाख किसानों के आने की उम्मीद है। रैली के बाद बीकेयू पूरे देश में विश्व व्यापार संगठन के खिलाफ़ आंदोलन चलाएगा।

साभारः द हिन्दू, 16 फरवरी 2005

नेशनल फिशवर्कर्स फोरम

क्या आप जानते हैं कि मछुआरों की संख्या के लिहाज़ से भारत का विश्व में दूसरा स्थान है? अपने देश के पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही तटीय इलाकों में देसी मछुआरा समुदायों के हज़ारों-हज़ार परिवार मछली मारने के पेशे में संलग्न हैं। सरकार ने जब मशीनीकृत मत्स्य-आखेट और भारतीय समुद्र में बड़े पैमाने पर मत्स्य-दोहन के लिए 'बॉटम ट्राऊलिंग' जैसे प्रौद्योगिकी के उपयोग की अनुमति दी तो मछुआरों के जीवन और आजीविका के आगे संकट आ खड़ा हुआ। पूरे सत्तर और अस्सी के दशक के दौरान मछुआरों के स्थानीय स्तर के संगठन अपनी आजीविका के मसले पर राज्य सरकारों से लड़ते रहे। चूँकि मत्स्य-आखेट राज्य-सूची का विषय है इसलिए मछुआरे ज़्यादातर क्षेत्रीय-स्तर पर ही लामबंद हुए।

1980 के दशक के मध्यवर्ती वर्षों में आर्थिक उदारीकरण की नीति की शुरुआत हुई तो बाध्य होकर मछुआरों के स्थानीय संगठनों ने अपना एक राष्ट्रीय मंच बनाया। इसका नाम 'नेशनल फिशवर्कर्स फोरम' (एन.एफ.एफ.) रखा गया। केरल के मछुआरों ने अपने हमपेशा साथियों को लामबंद करने की मुख्य ज़िम्मेवारी सँभाली। इसके अंतर्गत दूसरे राज्यों की हमपेशा महिलाओं को भी अपने साथ लामबंद करने का जिम्मा शामिल था। नेशनल फिशवर्कर्स फोरम ने 1997 में केंद्र सरकार के साथ अपनी पहली कानूनी लड़ाई लड़ी और इसमें उसे सफलता मिली। इस क्रम में इसके कामकाज ने एक ठोस रूप भी ग्रहण किया। एनएफएफ की यह लड़ाई सरकार की एक खास नीति के खिलाफ़ थी। केंद्र सरकार की इस नीति के अंतर्गत व्यावसायिक जहाज़ों को गहरे समुद्र में मछली मारने की इजाज़त दी गई थी। इस नीति के कारण अब बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए भी इस क्षेत्र के दरवाज़े खुल गए थे। पूरे 1990 के दशक में एनएफएफ ने केंद्र सरकार के साथ अनेक कानूनी लड़ाइयाँ लड़ीं और सार्वजनिक संघर्ष किया। इस मंच ने उन लोगों के हितों की रक्षा के प्रयास किए जो अपने जीवनयापन के लिए मछली मारने के पेशे से जुड़े थे न कि उनके, जो इस क्षेत्र में महज लाभ के लिए निवेश करते हैं। सन् 2002 के जुलाई में एनएफएफ ने एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। हड़ताल का यह आह्वान विदेशी कंपनियों को सरकार द्वारा मछली मारने के लाइसेंस जारी करने के विरोध में किया गया था। एनएफएफ ने पारिस्थितिकी की रक्षा और मछुआरों के जीवन को बचाने के लिए विश्वभर के समधर्मा संगठनों के साथ हाथ मिलाया है।

सदस्य बाज़ार के लिए नगदी फ़सल उपजाते थे। बीकेयू के समान राज्यों के अन्य किसान संगठनों ने अपने सदस्य उन समुदायों के बीच से बनाए जिनका क्षेत्र की चुनावी राजनीति में रसूख था। महाराष्ट्र का शेतकारी संगठन और कर्नाटक का रैयत संघ ऐसे किसान संगठनों के जीवंत उदाहरण हैं।

साभार: ज़ुबान

महिलाओं ने शराब माफ़िया को हराया

चित्तूर ज़िले के कलिनारी मंडल स्थित गुंडलुर गाँव की महिलाएँ अपने गाँव में ताड़ी की बिक्री पर पाबंदी लगाने के लिए एकजुट हुईं। उन्होंने अपनी बात गाँव के ताड़ी विक्रेता तक पहुँचाई। महिलाओं ने गाँव में ताड़ी लाने वाली जीप को वापस लौटने पर मज़बूर कर दिया। जब गाँव के ताड़ी-विक्रेता ने ठेकेदार को इसकी सूचना दी तो ठेकेदार ने उसके साथ गुंडों का एक दल भेजा। गाँव की महिलाएँ इससे भी नहीं डरीं। ठेकेदार ने पुलिस को बुलाया लेकिन पुलिस भी पीछे हट गई। एक सप्ताह बाद ताड़ी की बिक्री का विरोध करने वाली महिलाओं पर ठेकेदार के गुंडो ने सरियों और घातक हथियारों से हमला किया। लेकिन गुंडों के हमले के बावजूद महिलाओं की एकजुटता बरकरार रही और अंतत: ठेकेदार और उसके गुंडों को हार माननी पड़ी। फिर महिलाओं ने तीन जीप ताड़ी को फेंक दिया।

(29 अक्तूबर, 1992 को *इनाडु* में छपी खबर पर आधारित)

ताड़ी-विरोधी आंदोलन

जब बीकेयू उत्तर में किसानों को लामबंद कर रहा था उसी समय एक अलग तरह का आंदोलन दक्षिणी राज्य आंध्र प्रदेश में आकार ले रहा था। यह महिलाओं का एक स्वत:स्फूर्त आंदोलन था। ये महिलाएँ अपने आस-पड़ोस में मदिरा की बिक्री पर पाबंदी की माँग कर रही थीं।

वर्ष 1992 के सितंबर और अक्तूबर माह में इस तरह की खबरें तेलुगु प्रेस में लगभग रोज़ दिखती थी। गाँव का नाम बदल जाता पर खबर वैसी ही होती। ग्रामीण महिलाओं ने शराब के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ रखी थी। यह लड़ाई माफ़िया और सरकार दोनों के खिलाफ़ थी। इस आंदोलन ने ऐसा रूप धारण किया कि इसे राज्य में ताड़ी-विरोधी आंदोलन के रूप में जाना गया।

हमें इस तरह की अच्छी-अच्छी कहानियाँ तो सुनाई जाती हैं लेकिन हमें कभी यह नहीं बताया जाता कि इन कहानियों का अंत कैसा रहा। क्या यह आंदोलन शराबबंदी में सफ़ल हो पाया? या पुरुषों ने एक समय के बाद फिर पीना शुरू कर दिया?

साभार: ज़ुबान

उदय

आंध्र प्रदेश के नेल्लौर ज़िले के एक दूर-दराज के गाँव दुबरगंटा में 1990 के शुरुआती दौर में महिलाओं के बीच प्रौढ़-साक्षरता कार्यक्रम चलाया गया जिसमें महिलाओं ने बड़ी संख्या में पंजीकरण कराया। कक्षाओं में महिलाएँ घर के पुरुषों द्वारा देशी शराब, ताड़ी आदि पीने की शिकायतें करती थीं। ग्रामीणों को शराब की गहरी लत लग चुकी थी। इसके चलते वे शारीरिक और मानसिक रूप से भी कमज़ोर हो गए थे। शराबखोरी से क्षेत्र की ग्रामीण अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हो रही थी। शराबखोरी के बढ़ने से कर्ज़ का बोझ बढ़ा। पुरुष अपने काम से लगातार गैर-हाज़िर रहने लगे। शराब के ठेकेदार मदिरा व्यापार पर एकाधिकार बनाये रखने के लिए अपराधों में व्यस्त थे। शराबखोरी से सबसे ज़्यादा दिक्कत महिलाओं को हो रही थी। इससे परिवार की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी। परिवार में तनाव और मारपीट का माहौल बनने लगा।

साभार: द हिंदू

हैदराबाद (1992) : ताड़ी की बिक्री के विरोध में महिलाओं का विरोध प्रदर्शन।

नेल्लोर में महिलाएँ ताड़ी की बिक्री के खिलाफ़ आगे आईं और उन्होंने शराब की दुकानों को बंद कराने के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया। यह खबर तेज़ी से फैली और करीब 5000 गाँवों की महिलाओं ने आंदोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। प्रतिबंध संबंधी एक प्रस्ताव को पास कर इसे ज़िला कलेक्टर को भेजा गया। नेल्लोर ज़िले में ताड़ी की नीलामी 17 बार रद्द हुई। नेल्लोर ज़िले का यह आंदोलन धीरे-धीरे पूरे राज्य में फैल गया।

आंदोलन की कड़ियाँ

ताड़ी-विरोधी आंदोलन का नारा बहुत साधारण था-'ताड़ी की बिक्री बंद करो।' लेकिन इस साधारण नारे ने क्षेत्र के व्यापक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों तथा महिलाओं के जीवन को गहरे प्रभावित किया। ताड़ी व्यवसाय को लेकर अपराध एवं राजनीति के बीच एक गहरा नाता बन गया था। राज्य सरकार को ताड़ी की बिक्री से काफ़ी राजस्व की प्राप्ति होती थी इसलिए वह इस पर प्रतिबंध नहीं लगा रही थी। स्थानीय महिलाओं के समूहों ने इस जटिल मुद्दे को अपने आंदोलन में उठाना शुरू किया। वे घरेलू हिंसा के मुद्दे पर भी खुले तौर पर चर्चा करने लगीं। आंदोलन ने पहली बार महिलाओं को घरेलू हिंसा जैसे निजी मुद्दों पर बोलने का मौका दिया।

इस तरह ताड़ी-विरोधी आंदोलन महिला आंदोलन का एक हिस्सा बन गया। इससे पहले घरेलू हिंसा, दहेज प्रथा, कार्यस्थल एवं सार्वजनिक स्थानों पर यौन-उत्पीड़न के खिलाफ़ काम करने वाले महिला समूह आमतौर पर शहरी मध्यवर्गीय महिलाओं के बीच ही सक्रिय थे और यह बात पूरे देश पर लागू होती थी। महिला समूहों के सतत प्रयास से यह समझदारी विकसित होनी शुरू हुई कि औरतों पर होने वाले अत्याचार और लैंगिक भेदभाव का मामला ख़ासा जटिल है। आठवें दशक के दौरान महिला आंदोलन परिवार के अंदर और उसके बाहर होने वाली यौन हिंसा के मुद्दों पर केंद्रित रहा। इन समूहों ने दहेज प्रथा के खिलाफ़ मुहिम

चलाई और लैंगिक समानता के सिद्धांत पर आधारित व्यक्तिगत एवं संपत्ति कानूनों की माँग की।

इस तरह के अभियानों ने महिलाओं के मुद्दों के प्रति समाज में व्यापक जागरूकता पैदा की। धीरे-धीरे महिला आंदोलन कानूनी सुधारों से हटकर सामाजिक टकराव के मुद्दों पर भी खुले तौर पर बात करने लगा। ऊपर हमने एक ऐसे ही विषय पर बातें की हैं। नवें दशक तक आते-आते महिला आंदोलन समान राजनीतिक प्रतिनिधित्व की बात करने लगा था। आपको ज्ञात ही होगा कि संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के अंतर्गत महिलाओं को स्थानीय राजनीतिक निकायों में आरक्षण दिया गया है। इस व्यवस्था को राज्यों की विधानसभाओं तथा संसद में भी लागू करने की माँग की जा रही है। संसद में इस आशय का एक संशोधन विधेयक भी पेश किया जा चुका है। परंतु विधेयक को अभी तक ज़रूरी समर्थन हासिल नहीं हो पाया है। कुछ गुट जिनमें महिला समूह भी शामिल हैं, प्रस्तुत विधेयक के अंतर्गत दलित और पिछड़े वर्ग की महिलाओं के लिए अलग से आरक्षण की माँग कर रहे हैं।

नर्मदा बचाओ आंदोलन

वे सभी सामाजिक आंदोलन जिनके बारे में हमने अभी तक चर्चा की है, देश में आज़ादी के बाद अपनाए गए आर्थिक विकास के मॉडल पर सवालिया निशान

साभार: इंडिया टुडे

दहेज विरोधी अधिनियम के पक्ष में महिलाओं का प्रदर्शन

सिने-संसार

आक्रोश

भास्कर कुलकर्णी नाम के एक वकील को भीकू लहनिया का मुकदमा लड़ने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। आदिवासी भीकू पर अपनी पत्नी की हत्या का आरोप लगाया गया है। भीकू का वकील हत्या के कारणों की तह में जाना चाहता है लेकिन भीकू और उसका परिवार इस मामले में चुप्पी साधे रखते हैं। कुछ समय के बाद वकील पर हमला हो जाता है। इसके बाद एक सामाजिक कार्यकर्ता, भास्कर को हत्या के समूचे प्रकरण के बारे में जानकारी देता है।

लेकिन इसके बाद यह सामाजिक कार्यकर्ता गायब हो जाता है और भीकू के पिता की मृत्यु हो जाती है। भीकू को अपने पिता के दाह संस्कार में शामिल होने की अनुमति दी जाती है। यह वह बिंदु है जहाँ भीकू की चुप्पी टूट जाती है। प्रस्तुत फ़िल्म दलित वर्ग की अमानवीय जीवन परिस्थितियों का मुआयना कराती है और इस तथ्य को बहुत स्पष्टता के साथ सामने लाती है कि वर्चस्वशाली ताकतों का विरोध करना कितना मुश्किल होता है।

वर्ष : 1980
निर्देशक : गोविंद निहलानी
कहानी : विजय तेंदुलकर
पटकथा : सत्यदेव दुबे
अभिनय : नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, स्मिता पाटिल, नाना पाटेकर, महेश एलकुंचवार

लगाते रहे हैं। एक ओर जहाँ चिपको आंदोलन ने इस मॉडल में निहित पर्यावरणीय विनाश के मुद्दे को सामने रखा, वहीं दूसरी ओर, किसानों ने कृषि क्षेत्र की अनदेखी पर रोष प्रकट किया। इसी तरह जहाँ दलित समुदायों की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियाँ उन्हें जन–संघर्षों की ओर ले गईं वहीं ताड़ी–बंदी आंदोलन ने विकास के नकारात्मक पहलुओं की ओर इशारा किया।

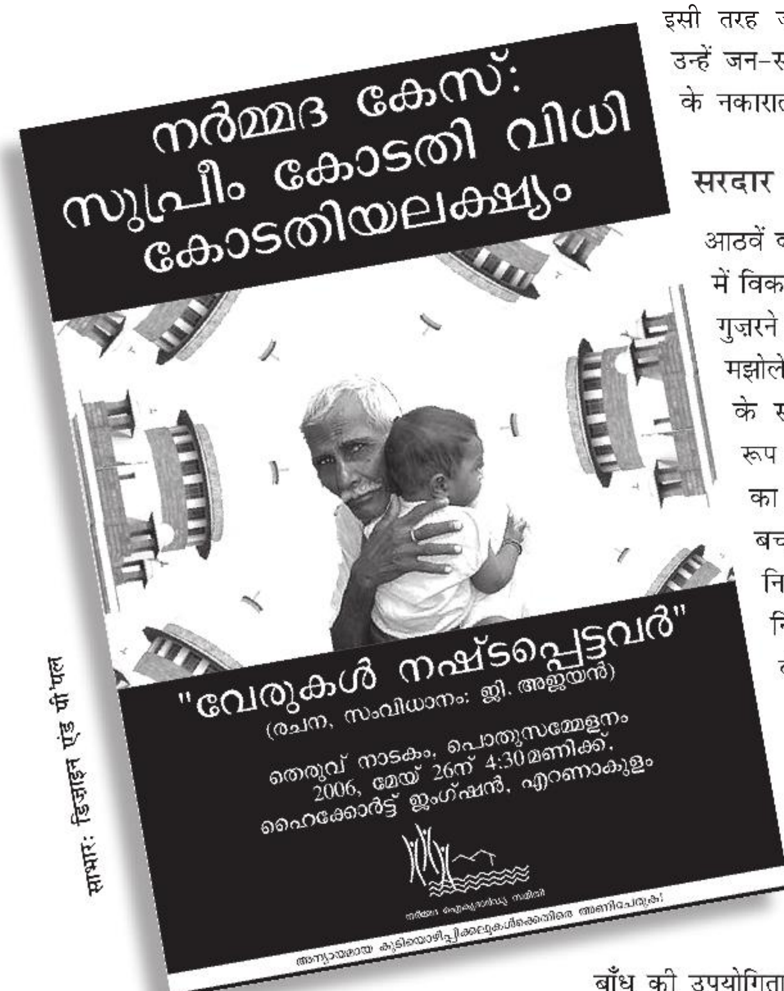

साभार: डिज़ाइन एंड पीपल

नर्मदा बचाओ आंदोलन के समर्थन में जारी किया गया एक पोस्टर

सरदार सरोवर परियोजना

आठवें दशक के प्रारंभ में भारत के मध्य भाग में स्थित नर्मदा घाटी में विकास परियोजना के तहत मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र से गुज़रने वाली नर्मदा और उसकी सहायक नदियों पर 30 बड़े, 135 मझोले तथा 300 छोटे बाँध बनाने का प्रस्ताव रखा गया। गुजरात के सरदार सरोवर और मध्य प्रदेश के नर्मदा सागर बाँध के रूप में दो सबसे बड़ी और बहु–उद्देश्यीय परियोजनाओं का निर्धारण किया गया। नर्मदा नदी के बचाव में नर्मदा बचाओ आंदोलन चला। इस आंदोलन ने बाँधों के निर्माण का विरोध किया। नर्मदा बचाओ आंदोलन इन बाँधों के निर्माण के साथ–साथ देश में चल रही विकास परियोजनाओं के औचित्य पर भी सवाल उठाता रहा है।

सरदार सरोवर परियोजना के अंतर्गत एक बहु–उद्देश्यीय विशाल बाँध बनाने का प्रस्ताव है। बाँध समर्थकों का कहना है कि इसके निर्माण से गुजरात के एक बहुत बड़े हिस्से सहित तीन पड़ोसी राज्यों में पीने के पानी, सिंचाई और बिजली के उत्पादन की सुविधा मुहैया कराई जा सकेगी तथा कृषि की उपज में गुणात्मक बढ़ोतरी होगी। बाँध की उपयोगिता इस बात से भी जोड़कर देखी जा रही थी कि इससे बाढ़ और सूखे की आपदाओं पर अंकुश लगाया जा सकेगा। प्रस्तावित बाँध के निर्माण से संबंधित राज्यों के 245 गाँव डूब के क्षेत्र में आ रहे थे। अतः प्रभावित गाँवों के करीब ढाई लाख लोगों के पुनर्वास का मुद्दा सबसे पहले स्थानीय कार्यकर्ताओं ने उठाया। इन गतिविधियों को एक आंदोलन की शक्ल 1988–89 के दौरान मिली जब कई स्थानीय स्वयंसेवी संगठनों ने खुद को नर्मदा बचाओ आंदोलन के रूप में गठित किया।

वाद–विवाद और संघर्ष

नर्मदा आंदोलन अपने गठन की शुरुआत से ही सरदार सरोवर परियोजना को विकास परियोजनाओं के बृहत्तर मुद्दों से जोड़कर देखता रहा है। यह आंदोलन विकास के मॉडल और उसके सार्वजनिक औचित्य पर सवाल उठाता रहा है। आंदोलन की एक मुख्य दलील यह रही है कि अब तक की सभी विकास परियोजनाओं पर हुए खर्च का विश्लेषण किया जाए। आंदोलन के अनुसार परियोजनाओं के लागत विश्लेषण में इस बात का जायजा भी लिया जाना चाहिए कि समाज के विभिन्न वर्गों को इन परियोजनाओं का क्या खामियाजा भुगतना पड़ा है! आंदोलन के नेतृत्व ने इस बात की

ओर ध्यान दिलाया कि इन परियोजनाओं का लोगों के पर्यावास, आजीविका, संस्कृति तथा पर्यावरण पर बुरा असर पड़ा है।

शुरुआत में आंदोलन ने यह माँग रखी कि परियोजना से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित सभी लोगों का समुचित पुनर्वास किया जाए। आंदोलन के लोगों ने इन महाकाय विकास परियोजनाओं के निर्माण की प्रक्रिया पर भी सवाल उठाए। नर्मदा बचाओ आंदोलन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि ऐसी परियोजनाओं की निर्णय प्रक्रिया में स्थानीय समुदायों की भागीदारी होनी चाहिए और जल, जंगल, ज़मीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर उनका प्रभावी नियंत्रण होना चाहिए। आंदोलन ने एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह भी उठाया कि लोकतंत्र में कुछ लोगों के लाभ के लिए अन्य लोगों को नुकसान क्यों उठाना चाहिए? इस तरह के सवालों से जूझते हुए आंदोलन ने अंततः पुनर्वास की माँग से आगे कदम बढ़ाया। अब आंदोलन बड़े बाँधों की खुली मुखालफ़त करता है।

(ऊपर) नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ता जलसमाधि लेते हुए (2002)।

(नीचे) नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा आयोजित एक नाव रैली।

नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ताओं का गुजरात जैसे राज्यों में तीव्र विरोध हुआ है। परंतु अब सरकार और न्यायपालिका दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि लोगों को पुनर्वास मिलना चाहिए। सरकार द्वारा 2003 में स्वीकृत राष्ट्रीय पुनर्वास नीति को नर्मदा बचाओ जैसे सामाजिक आंदोलन की उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है। परंतु सफलता के साथ ही नर्मदा बचाओ आंदोलन को बाँध के निर्माण पर रोक लगाने की माँग उठाने पर तीखा विरोध भी झेलना पड़ा है। आलोचकों का कहना है कि आंदोलन का अड़ियल रवैया विकास की प्रक्रिया, पानी की उपलब्धता और आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रहा है। सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले में सरकार को बाँध का काम आगे बढ़ाने की हिदायत दी है लेकिन साथ ही उसे यह आदेश भी दिया गया है कि प्रभावित लोगों का पुनर्वास सही ढंग से किया जाए। नर्मदा बचाओ

आंदोलन दो से भी ज़्यादा दशकों तक चला। आंदोलन ने अपनी माँग मुखर करने के लिए हरसंभव लोकतांत्रिक रणनीति का इस्तेमाल किया। आंदोलन ने अपनी बात न्यायपालिका से लेकर अंतर्राष्ट्रीय मंचों तक से उठाई। आंदोलन की समझ को जनता के सामने मुखर करने के लिए नेतृत्व ने सार्वजनिक रैलियों तथा सत्याग्रह जैसे तरीकों का भी प्रयोग किया परंतु विपक्षी दलों सहित मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के बीच आंदोलन कोई खास जगह नहीं बना पाया। वास्तव में, नर्मदा आंदोलन की विकास रेखा भारतीय राजनीति में सामाजिक आंदोलन और राजनीतिक दलों के बीच निरंतर बढ़ती दूरी को बयान करती है। उल्लेखनीय है कि नवें दशक के अंत तक पहुँचते-पहुँचते नर्मदा बचाओ आंदोलन से कई अन्य स्थानीय समूह और आंदोलन भी आ जुड़े। ये सभी आंदोलन अपने-अपने क्षेत्रों में विकास की बृहत् परियोजनाओं का विरोध करते थे। इस मुकाम तक आते-आते नर्मदा बचाओ आंदोलन देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे समधर्मा आंदोलनों के गठबंधन का अंग बन गया।

जन आंदोलन के सबक

जन आंदोलनों का इतिहास हमें लोकतांत्रिक राजनीति को बेहतर ढंग से समझने में मदद देता है। हमने देखा कि इस तरह के गैर-दलीय आंदोलन अनियमित ढंग से खड़े नहीं हो जाते। उन्हें समस्या के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। इन आंदोलनों का उद्देश्य दलीय राजनीति की खामियों को दूर करना था। इस रूप में, इन आंदोलनों को देश की लोकतांत्रिक राजनीति के अहम हिस्से के तौर पर देखा जाना चाहिए। सामाजिक आंदोलनों ने समाज के उन नए वर्गों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को अभिव्यक्ति दी जो अपनी दिक्कतों को चुनावी राजनीति के जरिए हल नहीं कर पा रहे थे। विभिन्न सामाजिक समूहों के लिए ये आंदोलन अपनी बात रखने का बेहतर माध्यम बनकर उभरे। समाज के गहरे तनावों और जनता के क्षोभ को एक सार्थक दिशा देकर इन आंदोलनों ने एक तरह से लोकतंत्र की रक्षा की है। सक्रिय भागीदारी के नए रूपों के प्रयोग ने भारतीय लोकतंत्र के जनाधार को बढ़ाया है।

क्या आंदोलनों को राजनीति की प्रयोगशाला कहा जा सकता है? आंदोलनों के दौरान नए प्रयोग किए जाते हैं और सफल प्रयोगों को राजनीतिक दल अपना लेते हैं।

इन आंदोलनों के आलोचक अकसर यह दलील देते हैं कि हड़ताल, धरना और रैली जैसी सामूहिक कार्रवाईयों से सरकार के कामकाज पर बुरा असर पड़ता है। उनके अनुसार इस तरह की गतिविधियों से सरकार की निर्णय-प्रक्रिया बाधित होती है तथा रोज़मर्रा की लोकतांत्रिक व्यवस्था भंग होती है। इस तरह की दलीलें एक और गहरे सवाल को जन्म देती हैं और वह सवाल यह है कि जन आंदोलन ऐसी मुखर सामूहिक गतिविधियों का सहारा क्यों लेते हैं? इस अध्याय में हमने देखा कि ये जन आंदोलन जनता की जायज़ माँगों के नुमाइंदा बनकर उभरे हैं और उन्होंने नागरिकों के एक बड़े समूह को अपने साथ जोड़ने में कामयाबी हासिल की है।

हमें यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन जन आंदोलनों द्वारा लामबंद की जाने वाली जनता सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित तथा अधिकारहीन वर्गों से संबंध रखती है। जन आंदोलनों द्वारा अपनाए गए तौर-तरीकों से ज़ाहिर होता है कि रोज़मर्रा की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में इन वंचित समूहों को अपनी बात कहने का पर्याप्त मौका नहीं मिलता था। इसी कारण ये समूह चुनावी शासन-भूमि से अलग जन-कार्रवाई और लामबंदी की रणनीति अपनाते हैं।

विभिन्न जन आंदोलन अपनी बात को आगे बढ़ाने के लिए अकसर लघु-पत्रिकाएँ प्रकाशित करते हैं।

सूचना के अधिकार का आंदोलन

सूचना के अधिकार का आंदोलन जन आंदोलनों की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। यह आंदोलन सरकार से एक बड़ी माँग को पूरा कराने में सफल रहा है। इस आंदोलन की शुरुआत 1990 में हुई और इसका नेतृत्व किया मज़दूर किसान शक्ति संगठन (एमकेएसएस) ने। राजस्थान में काम कर रहे इस संगठन ने सरकार के सामने यह माँग रखी कि अकाल राहत कार्य और मज़दूरों को दी जाने वाली पगार के रिकॉर्ड का सार्वजनिक खुलासा किया जाए। यह माँग राजस्थान के एक बेहद पिछड़े इलाके–भीम तहसील में सबसे पहले उठाई गई थी। इस मुहिम के तहत ग्रामीणों ने प्रशासन से अपने वेतन और भुगतान के बिल उपलब्ध कराने को कहा। दरअसल, इन लोगों को लग रहा था कि स्कूलों, डिस्पेंसरी, छोटे बाँधों तथा सामुदायिक केंद्रों के निर्माण कार्य के दौरान उन्हें दी गई मज़दूरी में भारी घपला हुआ है। कहने के लिए ये विकास परियोजनाएँ पूरी हो गई थीं लेकिन लोगों का मानना था कि सारे काम में धन की हेराफेरी हुई है। पहले 1994 और उसके बाद 1996 में मज़दूर किसान शक्ति संगठन ने जन-सुनवाई का आयोजन किया और प्रशासन को इस मामले में अपना पक्ष स्पष्ट करने को कहा।

साभार: पंकज पुष्कर

'घोटाला रथयात्रा' मज़दूर किसान शक्ति संगठन द्वारा विकसित लोकनाटक का एक रूप।

आंदोलन के दबाव में सरकार को राजस्थान पंचायती राज अधिनियम में संशोधन करना पड़ा। नए कानून के तहत जनता को पंचायत के दस्तावेज़ों की प्रमाणित प्रतिलिपि प्राप्त करने की अनुमति मिल गई। संशोधन के बाद पंचायतों के लिए बजट, लेखा, खर्च, नीतियों और लाभार्थियों के बारे में सार्वजनिक घोषणा करना अनिवार्य कर दिया गया। अब पंचायतों को इन मदों के बारे में नोटिस बोर्ड या अखबारों में सूचना देनी होती है। 1996 में एमकेएसएस ने दिल्ली में सूचना के अधिकार को लेकर राष्ट्रीय समिति का गठन किया। इस कार्रवाई का लक्ष्य सूचना के अधिकार को राष्ट्रीय अभियान का रूप देना था। इससे पहले, कंज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सेंटर (उपभोक्ता शिक्षा एवं अनुसंधान केंद्र), प्रेस काउंसिल तथा शौरी समिति ने सूचना के अधिकार का एक मसौदा तैयार किया था। 2002 में 'सूचना की स्वतंत्रता' नाम का एक विधेयक पारित हुआ था। यह एक कमज़ोर अधिनियम था और इसे अमल में नहीं लाया गया। सन् 2004 में सूचना के अधिकार के विधेयक को सदन में रखा गया। जून 2005 में विधेयक को राष्ट्रपति की मंजूरी हासिल हुई।

साभार: सुधीर तैलंग / यूएनडीपी एवं योजना आयोग

खोज-बीन

पिछले 25 वर्षों के दौरान आपके शहर या ज़िले में कौन-सा आंदोलन सक्रिय रहा है? आंदोलन के बारे में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें।

- आंदोलन कब शुरू हुआ, वह कब तक सक्रिय रहा?
- आंदोलन के प्रमुख नेताओं के नाम बताएँ? इस आंदोलन को किन सामाजिक समूहों का समर्थन प्राप्त था?
- आंदोलन के खास मुद्दे और मुख्य मांगे क्या थीं?
- क्या यह आंदोलन सफल हुआ? आपके क्षेत्र में इस आंदोलन का दूरगामी प्रभाव क्या हुआ?

यह बात हाल की नयी आर्थिक नीतियों के मामले में देखी जा सकती है। आप नौवें अध्याय में पढ़ेंगे कि कमोबेश सभी राजनीतिक दल इन नीतियों को लागू करने के पक्ष में हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हाशिए पर मौजूद जिन सामाजिक समूहों पर आर्थिक नीतियों का दुष्प्रभाव पड़ सकता है उन पर ये राजनीतिक दल ख़ास ध्यान नहीं देंगे और न ही मुख्यधारा की मीडिया उन पर ध्यान देगी। ऐसे में नयी आर्थिक नीतियों का विरोध करना हो तो जन-कार्रवाई का ही रास्ता बचता है। जन आंदोलन यही काम करते हैं। वे राजनीतिक दलों के चालू मुहावरे से अलग अपने मुद्दे उठाते हैं।

आंदोलन का मतलब सिर्फ़ धरना-प्रदर्शन या सामूहिक कार्रवाई नहीं होता। इसके अंतर्गत किसी समस्या से पीड़ित लोगों का धीरे-धीरे एकजुट होना और समान अपेक्षाओं के साथ एक-सी माँग उठाना ज़रूरी है। इसके अतिरिक्त, आंदोलन का एक काम लोगों को अपने अधिकारों को लेकर जागरूक बनाना भी है ताकि लोग यह समझें कि लोकतंत्र की संस्थाओं से वे क्या-क्या उम्मीद कर सकते हैं। भारत के सामाजिक आंदोलन बहुत दिनों से जनता को जागरूक बनाने के इस काम में संलग्न हैं। ऐसे में इन आंदोलनों ने लोकतंत्र को बाधा नहीं पहुँचायी बल्कि उसका विस्तार किया है।

किंतु कुल मिलाकर सार्वजनिक नीतियों पर इन आंदोलनों का असर काफ़ी सीमित रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि समकालीन सामाजिक आंदोलन किसी एक मुद्दे के इर्द-गिर्द ही जनता को लामबंद करते हैं। इस तरह वे समाज के किसी एक वर्ग का ही प्रतिनिधित्व कर पाते हैं। इसी सीमा के चलते सरकार इन आंदोलनों की जायज़ माँगों को ठुकराने का साहस कर पाती है। लोकतांत्रिक राजनीति वंचित वर्गों के व्यापक गठबंधन को लेकर ही चलती है जबकि जन आंदोलनों के नेतृत्व में यह बात संभव नहीं हो पाती। राजनीतिक दलों को जनता के विभिन्न वर्गों के बीच सामंजस्य बैठाना पड़ता है, जबकि जन आंदोलनों का नेतृत्व इस वर्गीय हित के प्रश्न को कायदे से नहीं सँभाल पाता। जान पड़ता है कि राजनीतिक दलों ने समाज के वंचित और अधिकारहीन लोगों के मुद्दों पर ध्यान देना छोड़ दिया है। पर जन आंदोलन का नेतृत्व भी ऐसे मुद्दों को सीमित ढंग से ही उठा पाता है। विगत वर्षों में राजनीतिक दलों और जन आंदोलनों का आपसी संबंध कमज़ोर होता गया है। इससे राजनीति में एक सूनेपन का माहौल पनपा है। हाल के वर्षों में, भारत की राजनीति में यह एक बड़ी समस्या के रूप में उभरा है।

प्रश्नावली

1. चिपको आंदोलन के बारे में निम्नलिखित में कौन-कौन से कथन गलत हैं:
   (क) यह पेड़ों की कटाई को रोकने के लिए चला एक पर्यावरण आंदोलन था।
   (ख) इस आंदोलन ने पारिस्थितिकी और आर्थिक शोषण के मामले उठाए।
   (ग) यह महिलाओं द्वारा शुरू किया गया शराब-विरोधी आंदोलन था।
   (घ) इस आंदोलन की माँग थी कि स्थानीय निवासियों का अपने प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण होना चाहिए।

2. नीचे लिखे कुछ कथन गलत हैं। इनकी पहचान करें और ज़रूरी सुधार के साथ उन्हें दुरुस्त करके दोबारा लिखें:
   (क) सामाजिक आंदोलन भारत के लोकतंत्र को हानि पहुँचा रहे हैं।
   (ख) सामाजिक आंदोलनों की मुख्य ताकत विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच व्याप्त उनका जनाधार है।
   (ग) भारत के राजनीतिक दलों ने कई मुद्दों को नहीं उठाया। इसी कारण सामाजिक आंदोलनों का उदय हुआ।

3. उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में (अब उत्तराखंड) 1970 के दशक में किन कारणों से चिपको आंदोलन का जन्म हुआ? इस आंदोलन का क्या प्रभाव पड़ा?

4. भारतीय किसान यूनियन किसानों की दुर्दशा की तरफ़ ध्यान आकर्षित करने वाला अग्रणी संगठन है। नब्बे के दशक में इसने किन मुद्दों को उठाया और इसे कहाँ तक सफलता मिली?

5. आंध्र प्रदेश में चले शराब-विरोधी आंदोलन ने देश का ध्यान कुछ गंभीर मुद्दों की तरफ़ खींचा। ये मुद्दे क्या थे?

6. क्या आप शराब-विरोधी आंदोलन को महिला-आंदोलन का दर्ज़ा देंगे? कारण बताएँ।

7. नर्मदा बचाओ आंदोलन ने नर्मदा घाटी की बाँध परियोजनाओं का विरोध क्यों किया?

8. क्या आंदोलन और विरोध की कार्रवाइयों से देश का लोकतंत्र मज़बूत होता है? अपने उत्तर की पुष्टि में उदाहरण दीजिए।

9. दलित-पैंथर्स ने कौन-से मुद्दे उठाए?

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

...लगभग सभी नए सामाजिक आंदोलन नयी समस्याओं जैसे–पर्यावरण का विनाश, महिलाओं की बदहाली, आदिवासी संस्कृति का नाश और मानवाधिकारों का उल्लंघन... के समाधान को रेखांकित करते हुए उभरे। इनमें से कोई भी अपनेआप में समाजव्यवस्था के मूलगामी बदलाव के सवाल से नहीं जुड़ा था। इस अर्थ में ये आंदोलन अतीत की क्रांतिकारी विचारधाराओं से एकदम अलग हैं। लेकिन, ये आंदोलन बड़ी बुरी तरह बिखरे हुए हैं और यही इनकी कमज़ोरी है... सामाजिक आंदोलनों का एक बड़ा दायरा ऐसी चीज़ों की चपेट में है कि वह एक ठोस तथा एकजुट जन आंदोलन का रूप नहीं ले पाता और न ही वंचितों और गरीबों के लिए प्रासंगिक हो पाता है। ये आंदोलन बिखरे-बिखरे हैं, प्रतिक्रिया के तत्त्वों से भरे हैं, अनियत हैं और बुनियादी सामाजिक बदलाव के लिए इनके पास कोई फ्रेमवर्क नहीं है। 'इस' या 'उस' के विरोध (पश्चिम-विरोधी, पूँजीवाद विरोधी, 'विकास'-विरोधी, आदि) में चलने के कारण इनमें कोई संगति आती हो अथवा दबे-कुचले लोगों और हाशिए के समुदायों के लिए ये प्रासंगिक हो पाते हों–ऐसी बात नहीं।

–रजनी कोठारी

(क) नए सामाजिक आंदोलन और क्रांतिकारी विचारधाराओं में क्या अंतर है?

(ख) लेखक के अनुसार सामाजिक आंदोलनों की सीमाएँ क्या-क्या हैं?

(ग) यदि सामाजिक आंदोलन विशिष्ट मुद्दों को उठाते हैं तो आप उन्हें 'बिखरा' हुआ कहेंगे या मानेंगे कि वे अपने मुद्दे पर कहीं ज़्यादा केंद्रित हैं। अपने उत्तर की पुष्टि में तर्क दीजिए।

खुद करें-खुद सीखें

एक हफ़्ते के अखबार की खबरों पर नज़र दौड़ाएँ और ऐसी तीन रिपोर्टों को चुनें जिन्हें आप जन आंदोलन से जुड़ी खबर मानते हों। इन आंदोलनों की मुख्य माँगों का पता करें। पता लगाएँ कि अपनी माँगों की स्वीकृति के लिए इन आंदोलनों ने क्या तरीका अपनाया है और राजनीतिक दलों की इस पर क्या प्रतिक्रिया है?